



अभिज्ञानशाकुन्तलम्: - मानव-प्रकृति से तादात्म्य संधारणीयता

डॉ. सुमन

सहायक आचार्य (संस्कृत), आदर्श महिला महाविद्यालय, भिवानी

M: 8168630120, Email: sarichwal@gmail.com

शोध-सार

आज की सभ्यता एक विचित्र एवं विडम्बनापूर्ण विरोधाभास से गुज़र रही है। सुविधाएँ जितनी विस्तृत और व्यापक हुई हैं, प्रकृति से आत्मीय एवं सहज संबंध उतना ही क्षीण होता गया है। वायु, जल, वन और जीव-जगत् संसाधन की श्रेणी में आ गए हैं और मनुष्य का मन उसी अनुपात में अशान्त हो गया है। प्रस्तुत शोधपत्र इस दोहरे संकट को सामने रखकर महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का पुनर्पाठ करता है। अध्ययन की एक संरचनागत विशेषता उल्लेखनीय है कि यहाँ श्लोक विषयवार बिखेरकर नहीं, अपितु नाटक के अपने क्रम में लिए गए हैं। नान्दी से लेकर भरतवाक्य तक, जिससे कवि की प्रकृति-दृष्टि का क्रमिक विकास स्वयं उद्घाटित होता चला गया। नान्दी की अष्टमूर्ति-वन्दना प्रकृति के प्रत्यक्ष तत्त्वों को ईश्वर की देह के रूप में प्रतिष्ठित करती है। प्रथम अंक का आखेट-निषेध और मृगों का 'विश्वासोपगम' तपोवन को अभयारण्य के रूप में खड़ा करता है। द्वितीय अंक का 'अनाघ्रातं पुष्पम्' अस्पृष्ट रहने देने के सौन्दर्य को स्वर देता है। चतुर्थ अंक शकुन्तला के जल-पोषण, नवपल्लव-संयम, प्रकृति की वियोग-वेदना और घायल मृगशावक की चिकित्सा में तादात्म्य का चरम दिखाता है। पंचम एवं षष्ठ अंक मन और परिवेश की परस्परता उभारते हैं और सप्तम् अंक का मारीच-आश्रम संयमित उपभोग तथा निर्भय सह-अस्तित्व का प्रतिमान बनकर भरतवाक्य के 'प्रकृतिहिताय' में समाहित हो जाता है। अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि कालिदास के अनुसार प्रकृति-रक्षा और आत्म-रक्षा दो अलग-अलग कार्य नहीं अपितु एक ही जीवन-दृष्टि के दो पक्ष हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ प्राचीन काव्य आधुनिक संधारणीयता-विमर्श से सार्थक संवाद कर सकता है।

बीज-शब्द: अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मानव-प्रकृति तादात्म्य, संधारणीयता।

1. प्रस्तावना

बीती शताब्दी ने मनुष्य को वह सब दिया जिसकी कल्पना उसकी पिछली पीढ़ियों ने भी नहीं की थी —



गति, सुविधा, संचार और उत्पादन। किन्तु इसी अवधि में उसने जो खोया, उसकी सूची भी कम लम्बी नहीं है। नदी जल का भण्डार मान ली गई, वन इमारती लकड़ी का स्रोत, भूमि उत्पादन की इकाई और पशु आर्थिक उपयोगिता की कसौटी पर तौली जाने वाली वस्तु। जिस क्षण प्रकृति 'सहचरी' के स्थान पर 'संसाधन' बनी, उसी क्षण से उसका क्षरण अनिवार्य हो गया क्योंकि जिसे हम केवल उपयोग की दृष्टि से देखते हैं, उसके प्रति संयम बरतने का कोई आंतरिक कारण शेष नहीं रहता।

किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह क्षरण केवल बाहर नहीं हुआ। जिन वर्षों में वायु और जल की गुणवत्ता गिरी, उन्हीं वर्षों में नींद, एकाग्रता और मन की स्थिरता भी कम हो गई। बाहर की समृद्धि भीतर के संतुलन की जमानत नहीं होती। अयह अनुभव आज इतने लोगों का साझा अनुभव बन चुका है कि इसे प्रमाणित करने के लिए किसी आँकड़े की आवश्यकता ही नहीं रह गई। इसीलिए आज का विमर्श केवल पर्यावरण-रक्षा तक सीमित न रहकर 'स्व-उपचार' और 'संधारणीयता' को एक साथ रखकर सोचने लगा है। प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों को जोड़ने वाला कोई सूत्र हमारी अपनी परम्परा में पहले से उपलब्ध है? इसी बिन्दु पर संस्कृत वाङ्मय का पुनर्पाठ केवल अतीत की स्मृति नहीं, भविष्य की खोज बन जाता है। भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति दृश्य-सज्जा का उपकरण कभी नहीं रही। वहाँ ऋतु, भू-दृश्य, जल, वनस्पति, पशु-पक्षी और मानवीय भाव एक ही जीवन-क्षेत्र के परस्पर जुड़े हुए अंग हैं। महाकवि कालिदास इस संबंध के सबसे सूक्ष्म द्रष्टा हैं। उनके यहाँ प्रकृति कभी प्रेम की पृष्ठभूमि बनती है, कभी विरह की सहचरी, कभी मानवीय स्थिति का मूक संकेत और कभी नैतिक चेतना का आधार।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि उसका कथानक ही तपोवन से आरम्भ होकर तपोवन में ही पूर्णता पाता है। महर्षि कण्व का आश्रम मात्र तपस्या-स्थल नहीं अपितु वहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति पारस्परिक निर्भरता और विश्वास के साथ रहते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस अध्ययन में 'स्व-उपचार' का अर्थ किसी आधुनिक चिकित्सकीय दावे को कालिदास पर आरोपित करना नहीं है और न ही 'संधारणीयता' को किसी तकनीकी शब्दावली के यथावत् प्रक्षेपण के रूप में लिया जाना है। दोनों को यहाँ पाठ में निहित संयम, न्यूनतम उपभोग, करुणा और उत्तरदायित्व के अर्थ में समझा गया है। कालिदास को 'प्राचीन पर्यावरण-वैज्ञानिक' सिद्ध करना इस शोध का अभीष्ट नहीं है बल्कि अभीष्ट यह दिखाना है कि उनके पाठ में निहित मूल्य आज के विमर्श से किस प्रकार संवाद कर सकते हैं।



2. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अध्ययन के उद्देश्य एवं प्रविधि

भारतीय चिंतन परंपरा में प्रकृति कभी भी मनुष्य के सामने उपस्थित हुई वस्तु नहीं रही, वह तो सदा उसके साथ चलने वाली सत्ता रही। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त की वह पंक्ति आज भी उतनी ही जीवंत होती है है — “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” (अथर्ववेद, 12.1.12)। जिस समाज में पृथ्वी को माता कहकर पुकारा जाता हो, वहाँ दोहन की भाषा स्वतः निर्बल पड़ जाती है, क्योंकि संबंध की भाषा उपयोग की भाषा से सदा अधिक बलवान् होती है। इसी कारण संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रकृति के उपादानों का मानवीकरण केवल अलंकार नहीं है अपितु वह उस दृष्टि की साहित्यिक अभिव्यक्ति है जो चराचर को एक ही चेतना से जुड़ा हुआ मानती है।

इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत अध्ययन से कुछ प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं - जैसे तपोवन किस प्रकार भयमुक्त सह-अस्तित्व का प्रतिमान गढ़ता है? शकुन्तला का वनस्पतियों और वन्यजीवों के प्रति व्यवहार किन मूल्यों की ओर संकेत करता है? प्रकृति और मानवीय मन के बीच किस प्रकार का संबंध बनता है? अन्ततः इन सबकी आज क्या सार्थकता है?

अध्ययन की प्रविधि पाठ-आधारित, विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक है। मूल संस्कृत पाठ ही यहाँ प्राथमिक साक्ष्य है। एक संरचनात्मक निर्णय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रायः ऐसे अध्ययनों में श्लोक, विषय के अनुसार इधर-उधर से ग्रहण कर लिए जाते हैं, जिससे पाठक को उद्धरणों का संग्रह तो मिल जाता है किन्तु कवि की विकसित होती दृष्टि नहीं मिलती। इसलिए यहाँ श्लोकों को नाटक के अपने मूल क्रम में ही लिया गया है — नान्दी से आरंभ होने वाली यह यात्रा प्रथम से सप्तम अंक तक विस्तृत होती हुई अंततः भारतवाक्य पर पूर्णता प्राप्त करती है। इससे पाठक नाटक के साथ-साथ गतिमान होता है और यह देख पाता है कि प्रकृति-विषयक चेतना नाटक में कहीं बाद में जोड़ी गई बात तो नहीं हैं। श्लोक-संख्याएँ चौखम्बा संस्करण (कालिदास, 2015) के अनुसार दी गई हैं; अन्य संस्करणों में इनमें एक-दो का अन्तर सम्भव है।

3. नान्दी: अष्टमूर्ति और प्रकृति की देह-प्रतिष्ठा

नाटक अभी आरम्भ भी नहीं हुआ, पात्र अभी मंच पर नहीं आए और कवि ने अपनी दृष्टि का सबसे बड़ा संकेत दे दिया। सामान्यतः नाटककार नान्दी में अपने इष्टदेव की वन्दना करते हैं। कालिदास वन्दना तो करते हैं, किन्तु जिन रूपों में करते हैं वे अगोचर नहीं, प्रत्यक्ष हैं —



या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.1)

इन आठ रूपों को परम्परागत व्याख्या जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु के रूप में ग्रहण करती है अर्थात् वही तत्त्व जिन पर जीवन टिका है। श्लोक के दो शब्द इस अध्ययन के लिए निर्णायक हैं: 'प्रत्यक्षाभिः' और 'तनुभिः'। जिन्हें हम प्रतिदिन देखते, पीते और साँस में लेते हैं, वे ही ईश्वर की 'तनु' अर्थात् देह कहे गए हैं। यह केवल भक्ति की भाषा नहीं, एक नैतिक स्थिति है। जल को पदार्थ मानकर उसका संरक्षण करना और उसे किसी की देह मानकर उसका संरक्षण करना — दोनों एक बात नहीं हैं। पहले में नियम चाहिए, दूसरे में नियम की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

इससे भी महत्वपूर्ण संकेत 'होत्री' पद में छिपा है। आठ मूर्तियों की इस गणना में मनुष्य भी सम्मिलित है — यजमान के रूप में अर्थात् यज्ञ करने वाले के रूप में। वह सृष्टि के बाहर खड़ा दर्शक नहीं है, न उसका स्वामी; वह उसी व्यवस्था का एक अंग है जिसकी वह वन्दना कर रहा है। जहाँ मनुष्य स्वयं को व्यवस्था के भीतर देखता है, वहाँ उसका हित और व्यवस्था का हित अलग-अलग नहीं रह जाते। यहीं से 'स्व-उपचार' और 'प्रकृति-रक्षा' के एक ही धरातल पर आ जाने का मार्ग खुलता है और यहीं से नाटक भी आरम्भ होता है।

4. प्रथम अंक: आखेट से अभयारण्य तक

नाटक राजसभा से नहीं अपितु एक भागते हुए हिरण से आरम्भ होता है और यह चयन आकस्मिक नहीं है। कालिदास पहले राजा को नहीं, मृग को स्वर देते हैं। रथ के पीछे भागते उस हिरण का पूरा एक श्लोक निर्धारित है —

ग्रीवाभङ्गभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः

पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा

पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.7)



बार-बार पीछे मुड़कर रथ की ओर देखना, बाण के भय से शरीर के अगले भाग को पिछले भाग में समेट लेना, थकान से खुले मुख से गिरते हुए आधे चबाए दर्भ, पृथ्वी पर कम तथा आकाश में अधिक दूरी तय करती हुई छलाँग — यह वर्णन आखेट के सौन्दर्य का नहीं अपितु एक प्राणी के आतंक का है। इसी में कवि की सूक्ष्मता है कि वह भय की उस मुद्रा को 'अभिराम' कहते हैं। सौन्दर्यबोध और हिंसा एक ही क्षण में आमने-सामने रख दिए जाते हैं और पाठक के भीतर वह असुविधा जन्म लेती है जिसे आगे का अंक स्वर देगा।

आश्रम-सीमा आते ही वह स्वर मुखर हो जाता है। तपस्वी राजा को रोकते हैं —

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मि-

न्मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।

क्व वत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं

क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.10)

रुई और आग की यह उपमा शक्ति के असंतुलन को एक ही चित्र में स्पष्ट कर देती है। 'क्व' की पुनरावृत्ति उसी असंतुलन को मापती है, कहाँ हरिणों का यह अत्यन्त चंचल, क्षणभंगुर जीवन और कहाँ वज्र-सदृश तीक्ष्ण बाण। संरक्षण का तर्क यहाँ भावुकता से नहीं, अनुपात के बोध से निकलता है। इसके तुरन्त बाद वही बात नियम का रूप ले लेती है —

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसहरं सायकम् ।

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.11)

'आर्तत्राणाय वः शस्त्रम्' — यह भारतीय वाङ्मय में शक्ति की मर्यादा का सबसे संक्षिप्त सूत्र है। शस्त्र का धर्म पीड़ित की रक्षा है, निरपराध पर प्रहार नहीं। दुष्यन्त राजा हैं अर्थात् उनके पास सामर्थ्य है। आश्रम-धर्म उन्हें यही स्मरण कराता है कि सामर्थ्य की सार्थकता संयम में है, प्रयोग में नहीं। आज की भाषा में इसे वन्यजीव-संरक्षण कहा जा सकता है, किन्तु मूल अन्तर यह है कि यहाँ निषेध दण्ड के भय से नहीं, धर्म-बोध से उपजता है।

ऐसे निषेध का दीर्घकालीन परिणाम क्या होता है, यह कवि आगे स्पष्ट करता है —

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः

प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।



विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते

मृगास्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.14)

यह श्लोक तपोवन का एक पूरा पारितन्त्र खींच देता है, तोतों के कोटरों से नीचे गिरे नीवार-दाने, इंगुदी के फल तोड़ने से चिकने हो चुके पत्थर, वल्कल से टपकते जल की रेखाओं से अंकित क्यारियों के मार्ग और इन सबके बीच वह पद जिस पर सारा भार है, 'विश्वासोपगमात्'। यहाँ के मृग रथ का शब्द सुनकर भी अपनी गति नहीं बदलते क्योंकि वे विश्वसत है। वही मृग, जो कुछ श्लोक पहले भय से काँप रहा था, यहाँ निर्विकार है। अन्तर स्थान का नहीं, व्यवहार का है।

संधारणीयता की सबसे कठोर कसौटी सम्भवतः यही है। किसी क्षेत्र का स्वास्थ्य आँकड़ों से उतना नहीं मापा जा सकता जितना इस प्रश्न से कि वहाँ के मूक प्राणी मनुष्य को देखकर भागते हैं या नहीं। यह विश्वास किसी घोषणा से नहीं बनता, अपितु यह पीढ़ियों के निरन्तर अहिंसक आचरण की धीमी उपज है।

इसी अंक में एक और दृश्य है, जो प्रायः केवल सौन्दर्य-वर्णन मानकर छोड़ दिया जाता है। दुष्यन्त शकुन्तला को पहली बार वृक्षों को जल देते हुए देखते हैं और उसके शरीर पर श्रम के चिह्न लक्षित करते हैं — "सस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणात्..." (1.29)। घड़े उठाने से झुके हुए कंधे और अत्यधिक लाल हुई हथेलियाँ — यह चित्र बताता है कि आश्रम-जीवन का व्यात्मक सुगन्ध भर नहीं, श्रमशील जीवन-पद्धति है। जहाँ उपभोग के साथ श्रम जुड़ा होता है, वहाँ वस्तु का वास्तविक मूल्य अनुभव होता है और अपव्यय की सम्भावना स्वतः घट जाती है। आज का संकट कुछ हद तक इसी कड़ी के टूट जाने का संकट है। हम उपभोग तो करते हैं, पर जिस श्रम से वह वस्तु आती है उसे कभी देखते नहीं हैं।

5. द्वितीय एवं तृतीय अंक: अस्पृष्ट का सौन्दर्य और शीतल का आश्रय

द्वितीय अंक में दुष्यन्त शकुन्तला के रूप का वर्णन करते हैं और वर्णन के लिए जिन उपमानों तक उनकी कल्पना पहुँचती है, वे ध्यान देने योग्य हैं —

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.10)



सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि यह श्लोक शकुन्तला के विषय में है, प्रकृति के विषय में नहीं। किन्तु उसकी पूरी शब्दावली एक ही स्रोत से आती है: न सूँघा गया पुष्प, नखों से न तोड़ा गया कोमल पल्लव, न बिंधा हुआ रत्न, जिसका रस अभी चखा न गया हो वह नवीन मधु। सौन्दर्य की पराकाष्ठा यहाँ 'अभी तक न लिए गए' में देखी गई है। जिस कवि की कल्पना श्रेष्ठतम की व्याख्या के लिए बार-बार अस्पृष्ट की ओर जाती हो, उसके संस्कार किस दिशा में गढ़े गए हैं, यह अनुमान कठिन नहीं। 'किसलयमलूनं कररुहैः' पद तो आगे चतुर्थ अंक में शकुन्तला के आचरण के रूप में ही लौटकर आने वाला है मानो कवि ने सौन्दर्य की जो कसौटी यहाँ बनाई थी, उसे वहाँ चरित्र में उतार दिया हो।

तृतीय अंक इसी संबंध को शरीर के धरातल पर ले आता है। मालिनी-तट की छाया में संतप्त शकुन्तला मृणाल-वलय, कमल-पत्र और उशीर जैसे शीतल प्राकृतिक उपादानों का आश्रय लेती है और उसकी सखियाँ उन्हीं से उसकी पीड़ा शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। इसे आधुनिक चिकित्सा का प्रमाण मान लेना पाठ के साथ अन्याय होगा, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इन पात्रों के लिए संताप के क्षण में सबसे पहला आश्रय अपने चारों ओर का प्राकृतिक परिवेश ही है। जिस परिवेश से मनुष्य ने संबंध बनाए रखा हो, वही कष्ट के क्षण में उसके सबसे निकट होता है — यह उतना ही व्यावहारिक सत्य है जितना काव्यात्मक।

6. चतुर्थ अंक: जल, पल्लव, अश्रु और औषध

संस्कृत साहित्य में चतुर्थ अंक की प्रतिष्ठा अकारण नहीं है। शकुन्तला की विदाई का यह अंक इस अध्ययन की दृष्टि से भी केन्द्रीय है, क्योंकि यहाँ तादात्म्य की बात सिद्धान्त से आगे बढ़कर दैनिक आचरण बन जाती है। कण्व आश्रम के वृक्षों को सम्बोधित करते हैं और उनसे शकुन्तला के लिए अनुमति माँगते हैं। वृक्षों से अनुमति माँगना ही अपने आप में एक पूरा दर्शन है —

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.9)

इस एक श्लोक में तीन भिन्न प्रकार के मूल्य एक साथ बँधे हुए हैं। पहला — जब तक पौधों को जल से सींचा न जाए तब तक वह स्वयं जल नहीं पीती थी। यह क्रम का प्रश्न है, मात्रा का नहीं और क्रम में ही



कृतज्ञता बसती है। दूसरा — श्रृंगार उसे प्रिय है, फिर भी स्नेहवश वह तुम्हारा नवपल्लव नहीं तोड़ती। यहाँ त्याग नहीं है, संयम है। इच्छा बनी हुई है, पर संबंध उससे बड़ा है। यही न्यूनतम उपभोग का वास्तविक आधार है, क्योंकि जो संयम इच्छा के अभाव से आता है वह टिकाऊ नहीं होता; जो संबंध से आता है, वही टिकता है। तीसरा — वृक्षों पर प्रथम पुष्प आने पर वह उत्सव मनाती है। घर में किसी की सफलता पर जो आनन्द होता है, वही आनन्द।

यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें से कोई भी कार्य बड़ा नहीं है। जल पहले देना, पत्ता न तोड़ना, फूल आने पर प्रसन्न होना — ये सब अत्यन्त छोटे व्यवहार हैं। किन्तु संधारणीय जीवन-शैली इन्हीं छोटे व्यवहारों से बनती है, किसी बड़ी घोषणा से नहीं। इनके पीछे कोई नियम या दण्ड नहीं, केवल स्नेह है — श्लोक का 'स्नेहेन' पद इस पूरे विमर्श की कुंजी है।

संबंध जब सचमुच का हो, तो वह एकपक्षीय नहीं रह सकता। विदाई के क्षण में प्रकृति भी चुप नहीं रहती —

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.12)

हरिणियों के मुख से दर्भ का ग्रास छूट गया है, मोरों ने नृत्य छोड़ दिया है और लताएँ पीले पत्ते गिराती हुई मानो आँसू बहा रही हैं। इसे वैज्ञानिक अर्थ में प्रकृति का सचमुच शोक मानना आवश्यक नहीं; काव्य के स्तर पर यह मानवीकरण उस संबंध की गहराई का माप है। जो दृष्टि प्रकृति को वस्तु मानती है, उसके लिए यह श्लोक केवल अलंकार रहेगा; जो दृष्टि उसे सहभागी मानती है, उसके लिए यह साक्ष्य है। यही भावात्मक सहभागिता मनुष्य को प्रकृति के प्रति उत्तरदायी बनाती है। जिसके दुःख में हम सम्मिलित होते हैं, उसे हम नष्ट नहीं कर पाते।

किन्तु कालिदास संवेदना को वहीं नहीं छोड़ते। वे उसे कर्म तक ले जाते हैं। कण्व शकुन्तला को उस मृगशावक का स्मरण कराते हैं जिसे उसने पाला था —

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति

सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.14)



कुश की नोक से बिंधे उस शावक के मुख पर घाव भरने वाला इंगुदी-तेल लगाना और श्यामाक की मुट्टियाँ खिलाकर उसे पालना — यहाँ जीव-दया औषध, श्रम और नियमित देखभाल का रूप ले लेती है। 'न पुत्रकृतकः' पद तो सम्बन्ध को और आगे ले जाता है: वह पशु अब कृत्रिम पुत्र नहीं, पुत्र ही है। इस एक पद से 'मनुष्य बनाम पशु' की द्वैत-संरचना टूट जाती है और पशु आश्रम-परिवार का सदस्य बन जाता है। संरक्षण का अर्थ यहाँ केवल 'न मारना' नहीं रह जाता; संकटग्रस्त जीव की सेवा भी उसी कर्तव्य का भाग बन जाती है। प्रकृति से प्राप्त औषधि से प्रकृति के ही जीव का उपचार — इस चक्र में देने और लेने का भेद ही मिट जाता है।

7. पंचम एवं षष्ठ अंक: अंतर्मन का परिवर्तित परिदृश्य

अब तक की चर्चा यह दिखाती है कि मनुष्य प्रकृति के साथ कैसा व्यवहार करता है। पंचम अंक प्रश्न को पलट देता है और पूछता है कि प्रकृति मनुष्य के भीतर क्या करती है? शाप के कारण स्मृति खो चुके दुष्यन्त संगीत सुनकर एक अकारण-सी व्याकुलता अनुभव करते हैं और कहते हैं —

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्

पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.2)

सुन्दर दृश्य और मधुर ध्वनियाँ सुखी व्यक्ति के भीतर भी एक उत्कण्ठा जागृत कर देती हैं। मानो चित्त किसी ऐसे स्नेह का स्मरण कर रहा हो जो बोध से पहले का है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान का निष्कर्ष बताकर उद्धृत करना उचित न होगा, किन्तु काव्यात्मक मनोविज्ञान के स्तर पर यह श्लोक एक असाधारण बात कहता है: बाह्य दृश्य केवल आँख तक नहीं रुकता, वह स्मृति और भाव को भी छू लेता है। परिवेश हमारे भीतर उतरता है, चाहे हम उस पर ध्यान दें या न दें। इसीलिए जिस परिवेश में हम रहते हैं, वह हमारा केवल आवास नहीं, हमारे मन की सामग्री भी है।

षष्ठ अंक इसी सूत्र का विपरीत पक्ष दिखाता है। अंगूठी मिलने पर स्मृति लौटती है और उसके साथ ग्लानि तथा वियोग का संताप भी। राजा की भीतरी दशा ऐसी है कि राजधानी में वसन्तोत्सव ही स्थगित कर दिया जाता है। ऋतु बाहर आ चुकी है, पर भीतर नहीं आ पा रही और उत्सव रोक देना पड़ता है। बाहरी ऐश्वर्य



उस संताप को छू तक नहीं पाता। कालिदास की दृष्टि में व्यक्ति और परिवेश के बीच कोई कठोर दीवार नहीं है; मन का अपना मौसम होता है और वह बाहर की ऋतु को भी रंग देता है।

8. सप्तम अंक: मारीच-आश्रम — संयम, निर्भयता और स्व-उपचार

इस मानसिक विघटन का निर्णायक मोड़ सप्तम अंक में आता है और उसका स्थान महत्वपूर्ण है — हस्तिनापुर नहीं, हेमकूट पर्वत पर स्थित महर्षि मारीच का आश्रम। वहाँ दुष्यन्त एक दृश्य देखते हैं जिसे कवि ने संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सजीव रूप में रखा है —

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।

प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7.14)

एक बालक उस सिंह-शिशु को खेलने के लिए बलपूर्वक खींच रहा है जिसने अभी अपनी माता के स्तनों का अर्धपान किया है और जिसके अयाल मसलने से अस्त-व्यस्त है। इससे आगे वह वाक्य आता है जिसे संस्कृत साहित्य की सबसे निर्भय पंक्तियों में गिना जाना चाहिए — “जृम्भस्व सिंह दन्तांस्ते गणयिष्ये” (सप्तम अंक, गद्यांश)। हे सिंह, मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिन्नूँगा। यहाँ सिंह और बालक भय अथवा हिंसा के संबंध में नहीं, सहज कौतूहल के संबंध में उपस्थित हैं। प्रथम अंक का वह काँपता हुआ मृग और सप्तम अंक का यह निश्चिन्त सिंह-शावक — नाटक के दो छोरों पर रखे ये दो चित्र मिलकर उस पूरी यात्रा को माप देते हैं जो कवि ने तय की है।

इसी आश्रम के तपस्वियों की जीवन-पद्धति भी उतनी ही सूचक है। कालिदास का वर्णन बताता है कि प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा के बीच रहते हुए भी उनका जीवन संचय पर नहीं, अत्यन्त सीमित आवश्यकताओं पर टिका है। संधारणीयता का आधार यहाँ तकनीकी दक्षता से पहले उपभोग की सीमा का बोध है — जितना आवश्यक है उतना ही लेना और प्रकृति के चक्र को अनावश्यक रूप से बाधित न करना। यह उल्लेखनीय है कि यह संयम अभाव से नहीं आया अपितु आश्रम-परिसर की समृद्धि से आया है। संयम विकल्प है, विवशता नहीं और यही उसे आदर्श बनाता है।

इस पूरे प्रसंग को प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन के साहित्यिक रूपक के रूप में पढ़ा जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि कवि, दुष्यन्त का संताप किसी एक साधन से समाप्त होता हुआ नहीं दिखाते हैं। वहाँ का शान्त वातावरण, तपस्वियों का संयम, वन्यजीवों का निर्भय व्यवहार और भरत से पुनर्संबंध — ये सब मिलकर उस परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनते हैं। इस अर्थ में ‘तपोवन’ स्व-उपचार का एक सांस्कृतिक



प्रतिमान है, किसी चिकित्सा का विकल्प नहीं। उसका संदेश इतना ही है कि मनुष्य की मानसिक शान्ति उसके परिवेश, संबंधों और जीवन-पद्धति से अलग करके नहीं सोची जा सकती।

9. भरतवाक्य: 'प्रकृतिहिताय' की नीतिगत परिणति

नाटक जिस वन्दना से आरम्भ हुआ था तथा जिस कामना पर समाप्त हुआ है, वह इस अध्ययन की स्वाभाविक परिणति है —

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः

सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7.35)

‘प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः’ — राजा प्रकृति के हित में प्रवृत्त हो। राजशास्त्र की परम्परा में ‘प्रकृति’ शब्द प्रजा अथवा राज्य के अंगों के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है और सामान्य प्रयोग में वह नैसर्गिक जगत का वाचक है। इन दोनों अर्थों की संगति यहाँ एक अर्थ-सम्भावना के रूप में देखी जा सकती है, निश्चित शब्दार्थ के रूप में नहीं और बौद्धिक ईमानदारी यही माँगती है कि इसे इसी सीमा में रखा जाए। किन्तु इतना निर्विवाद है कि कवि शासन के प्रयोजन को किसी संकुचित लाभ से नहीं अपितु व्यापक हित से जोड़ता है। जिस पाठ ने सात अंकों तक मनुष्य, पशु, वनस्पति और जल को एक ही परिवार के रूप में देखा हो, उसके अन्तिम वाक्य में ‘प्रकृतिहित’ को केवल प्रशासनिक अर्थ तक सीमित कर देना पाठ के साथ न्याय नहीं होगा।

यह क्रम स्वयं में सार्थक है। नान्दी में जो प्रकृति ईश्वर की देह के रूप में प्रतिष्ठित हुई; भरतवाक्य में वही प्रकृति शासन के लक्ष्य के रूप में आती है। श्रद्धा से आरम्भ होकर नीति पर समाप्त होना, यह किसी भी जीवित मूल्य की स्वाभाविक गति है। जो बात केवल श्रद्धा तक रह जाए वह भावुकता बन जाती है और जो केवल नीति तक सीमित रहे वह प्रवर्तन का बोझ बनकर रह जाती है।

10. कालिदास के व्यापक वाङ्मय से संपुष्टि

यह दृष्टि केवल एक नाटक की नहीं है। ‘मेघदूत’ का यक्ष जब बादल को दूत बनाता है, तब कवि स्वयं इस चयन के औचित्य पर प्रश्न उठा देते हैं —

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः



सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ (मेघदूतम् पूर्वमेघ 5)

कहाँ धूम, ज्योति, जल और वायु का समागम मात्र यह मेघ और कहाँ वे संदेश जो समर्थ इन्द्रियों वाले प्राणियों द्वारा पहुँचाए जाने योग्य हैं। कवि जानते हैं कि बादल जड़ है और फिर भी पूरा काव्य उसी से संवाद में रचा गया है। अन्तिम चरण इसका कारण देता है: आर्त व्यक्ति चेतन और अचेतन का भेद नहीं करता। यही वह मनोवैज्ञानिक सत्य है जिस पर भारतीय प्रकृति-काव्य टिका है। प्रकृति से संवाद विश्वास का प्रश्न नहीं, संबंध का प्रश्न है।

‘रघुवंश’ के द्वितीय सर्ग में राजा दिलीप और नन्दिनी का प्रसंग इसी प्रारूप को दूसरी दिशा से पुष्ट करता है। वहाँ राजा का श्रेष्ठत्व, प्रकृति पर अधिकार में नहीं अपितु उसकी सेवा और मर्यादा-पालन में सिद्ध होता है। बिल्कुल इसी प्रकार ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ के प्रथम अंक में दुष्यन्त को आश्रम-धर्म का स्मरण कराया जाता है। ‘ऋतुसंहार’ का समूचा ढाँचा इसी मान्यता पर खड़ा है कि ऋतु-परिवर्तन मनुष्य के शरीर, मन और व्यवहार को स्पर्श करता हुआ गुज़रता है। तीनों ग्रन्थ अलग-अलग विधाओं के हैं, पर तीनों में एक ही सूत्र चलता है।

11. समकालीन प्रासंगिकता एवं उपसंहार

इस पूरे अनुशीलन से जो चित्र उभरता है, उसमें ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ को केवल प्रणय-कथा या राजदरबारी आख्यान मानकर पढ़ना उसके एक महत्त्वपूर्ण आयाम की उपेक्षा करना होगा। नान्दी में जो दृष्टि श्रद्धा के रूप में प्रकट हुई थी, वह प्रथम अंक में आचरण बनी, चतुर्थ अंक में स्नेह और औषध की भाषा में ढली, सप्तम अंक में जीवन-पद्धति का रूप लेकर खड़ी हुई और अन्ततः भरतवाक्य में लोकहित की कामना बनकर समाप्त हुई।

आज संधारणीय विकास की चर्चा संसाधनों की उपलब्धता तक सीमित नहीं रह गई। उसमें उपभोग का स्तर, जैव-विविधता, स्थानीय पारिस्थितिकी, समुदायों की भागीदारी और भावी पीढ़ियों के अधिकार जैसे प्रश्न जुड़े हुए हैं। कालिदास इनका तकनीकी समाधान नहीं देते। उनका योगदान दूसरा है और सम्भवतः अधिक टिकाऊ: भी है। वे संबंध की भाषा देते हैं। जल का प्रथम भाग वृक्ष को देना, सुन्दर पल्लव को केवल इसलिए न तोड़ना कि वह किसी का है, फूल आने पर प्रसन्न होना और घायल पशु की सेवा करना



— ये कार्य किसी नीति-पत्र में नहीं आते, पर वह मानसिकता इन्हीं से बनती है जिसके बिना कोई नीति चलती नहीं।

यहीं से 'स्व-उपचार' की अवधारणा भी अपने उचित संदर्भ में स्पष्ट होती है। नाटक यह नहीं कहता कि वन हर मानसिक व्याधि की औषधि है। वह इतना कहता है कि श्रम, संयम, सीमित उपभोग, जीव-दया और शान्त परिवेश मिलकर एक ऐसी जीवन-संरचना बनाते हैं जिसमें मन के सँभलने की सम्भावना अधिक होती है। दुष्यन्त का अनुभव इसी का दृष्टान्त है। राजकीय सुविधा उनकी ग्लानि नहीं मिटाती और मारीच-आश्रम कोई चमत्कार नहीं करता; वह केवल एक भिन्न जीवन-पद्धति के भीतर उन्हें रख देता है।

अतः इस शोध का मूल निष्कर्ष यह है कि प्रकृति का संरक्षण और मनुष्य का आत्म-संरक्षण परस्पर विरोधी नहीं, एक-दूसरे से बँधे हुए प्रयोजन हैं। जिस मनुष्य में प्रकृति के प्रति कृतज्ञता, संयम और करुणा विकसित होगी, उसकी जीवन-दृष्टि स्वभावतः अधिक संधारणीय होगी और जो पर्यावरण को सहेजेगा, वह अनजाने ही अपने स्वस्थ अस्तित्व की परिस्थितियाँ भी सुदृढ़ कर रहा होगा। कालिदास की प्रासंगिकता इसमें नहीं है कि वे आधुनिक विज्ञान के निष्कर्ष पहले से जानते थे अपितु उनकी प्रासंगिकता इसमें है कि उन्होंने मनुष्य को प्रकृति से अलग करने वाली मानसिकता के विरुद्ध एक संबंधपरक जीवन-दृष्टि का ऐसा काव्यात्मक रूप गढ़ा जो सोलह सौ वर्ष बाद भी पढ़ने वाले को भीतर से परिवर्तित कर सकता है। 'प्रकृतिहित' की यही भावना वह सेतु है जो उस युग के तपोवन को इस युग के स्वस्थ भविष्य की खोज से जोड़ती है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

अथर्ववेदसंहिता (सायणभाष्य-सहित), प्रथम खण्ड. (2011). चौखम्बा विद्याभवन।

उपाध्याय, बलदेव. (2010). *संस्कृत साहित्य का इतिहास*. शारदा निकेतन।

कालिदास. (2012क). *मेघदूतम्* (मल्लिनाथकृत 'संजीवनी' टीका सहित). चौखम्बा संस्कृत संस्थान।

कालिदास. (2012ख). *रघुवंशम्* (मल्लिनाथकृत 'संजीवनी' टीका सहित). चौखम्बा संस्कृत संस्थान।

कालिदास. (2015). *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* (कपिलदेव गिरि, सं. एवं व्या.). चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

त्रिपाठी, राधावल्लभ. (2012). *संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास*. विश्वविद्यालय प्रकाशन।